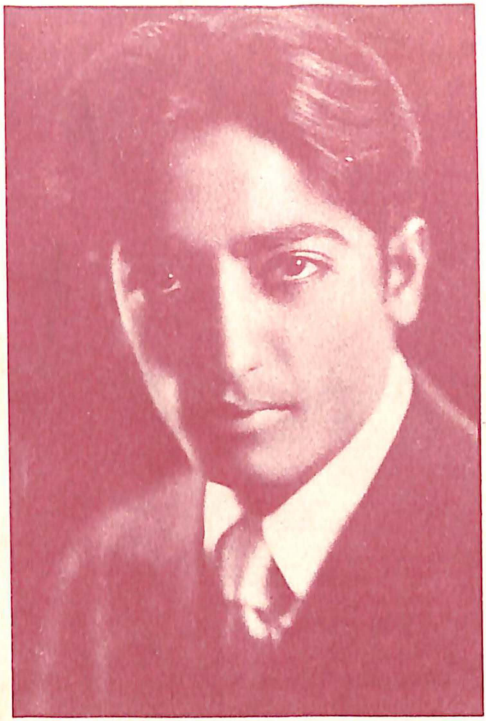

H
181.49
K 897 P

जे. कृष्णमूर्ति

प्रेम

स्वयं से एक संलाप

INDIAN INSTITUTE
OF
ADVANCED STUDY
LIBRARY, SHIMLA

प्रेम
स्वयं से एक संलाप

30 अगस्त 1977 को ब्रॉकवुड पार्क
सम्मेलन में आयोजित विचार गोष्ठी से उद्धृत अंश

जे० कृष्णमूर्ति

अनुवाद : सरोज बिसारिया

जे० कृष्णमूर्ति प्रज्ञा परिषद्
कृष्णमूर्ति फ़ाउण्डेशन इण्डिया
राजघाट फ़ोर्ट, वाराणसी

Prem : Swayam Se ek Sanlap - J. Krishnamurti

Hindi Translation of *A Dialogue with Oneself*
Translated by : Saroj Bisaria

Authorised by Krishnamurti Foundation India

© 1984 Krishnamurti Foundation India
Vasanta Vihar, 64-65, Greenways Road, Chennai 600 028
email : kfihq@md2.vsnl.net.in

Fourth Reprint in 2000

Published by
J. Krishnamurti Prajna Parishad
Krishnamurti Foundation India, Rajghat Fort, Varanasi 221 001
email : kcentrevns@satyam.net.in

Printed by
Sattanam Printers
Pandeypur, Varanasi.

Library IIAS, Shimla
H 181.49 K 897 P
G6094

मैं अनुभव करता हूँ कि जहाँ ईर्ष्या होती है, जहाँ आसक्ति होती है, वहाँ प्रेम का अस्तित्व नहीं होता। अब प्रश्न उठता है कि क्या हमारे लिए ईर्ष्या और आसक्ति से मुक्त रहना सम्भव है? मैं अनुभव करता हूँ कि मैं प्रेम नहीं करता। यह एक तथ्य है। मैं अपने को धोखा देना नहीं चाहता और न ही मैं अपनी पत्नी से इसका मिथ्या प्रदर्शन ही करना चाहता हूँ कि मैं उससे प्रेम करता हूँ। मैं नहीं जानता कि प्रेम है क्या। किन्तु मैं यह अवश्य जानता हूँ कि मैं ईर्ष्यालु हूँ, मैं यह अवश्य जानता हूँ कि मैं उसके प्रति प्रचण्ड रूप से आसक्त हूँ, और आसक्ति में भय होता है, ईर्ष्या होती है, चिन्ता होती है, एक प्रकार की निर्भरता का भाव होता है। मैं निर्भर नहीं होना चाहता हूँ किन्तु निर्भर होता हूँ क्योंकि मैं अकेला हूँ। मैं कार्यालय में, कारखाने में, धक्कम-धक्का झेलने के बाद घर आता हूँ तो सुख, सुविधा एवं साहचर्य की इच्छा करता हूँ, स्वयं से बचने के लिए। अब मैं अपने से ही पूछता हूँ : इस आसक्ति से किस प्रकार मुक्त हुआ जा सकता है ? मैं इसे केवल उदाहरण के लिए ले रहा हूँ।

सर्वप्रथम तो मैं इस प्रश्न से ही पलायन करना चाहता हूँ। मैं नहीं जानता कि मेरी पत्नी के साथ इसका क्या परिणाम होगा। जब मैं पत्नी से वस्तुतः अनासक्त हो जाऊँगा तो उससे मेरा सम्बन्ध भी परिवर्तित हो सकता है। वह मेरे प्रति आसक्त रह सकती है, किन्तु मैं उसके प्रति या किसी अन्य स्त्री के प्रति आसक्त नहीं भी रह सकता हूँ। मैं अन्वेषण में प्रवृत्त हो रहा हूँ। अतएव मैं जो कुछ कल्पना करता हूँ, उससे पलायन नहीं करूँगा, क्योंकि वह समस्त आसक्तियों से मुक्त हो जाने का परिणाम

भी हो सकता है। मैं नहीं जानता कि प्रेम क्या है, किन्तु मैं देखता हूँ स्पष्ट रूप से, निश्चित रूप से, असंदिग्ध रूप से कि पत्नी के प्रति मेरी आसक्ति का अर्थ है, ईर्ष्या, एकाधिकार, भय, चिन्ता। और मैं इन सबसे मुक्ति चाहता हूँ। इसलिए मैं जिज्ञासा आरम्भ करता हूँ, एक उपाय अथवा पद्धति खोजता हूँ, और फिर मैं एक व्यवस्था से अपने को जोड़ लेता हूँ। कोई गुरु कहता है, ''आसक्त न बनने में मैं सहायक रहूँगा— यह करो, यह न करो, इस-इस का अभ्यास करो।'' जो कुछ गुरु कहता है मैं अंगीकार कर लेता हूँ, क्योंकि मुक्ति के महत्व को मैं समझता हूँ और वह मुक्ति का आश्वासन भी देता है। यदि मैं उसके अनुसार चलूँगा तो उपकृत भी होऊँगा। परन्तु इसे ही यदि दूसरे रूप में देखें तो स्पष्ट है कि मेरी दृष्टि प्रतिफल पर ही लगी हुई है। और तब मैं अनुभव करता हूँ कि मैं कितना मूर्ख हूँ; फल के प्रति आसक्त होकर मुक्ति की कामना करता हूँ!

मैं आसक्त नहीं होना चाहता हूँ फिर भी मैं पाता हूँ कि मैं इस विचार के प्रति आसक्त हूँ कि कोई व्यक्ति, कोई ग्रन्थ, कोई पद्धति मुझे आसक्ति से मुक्त कर देगी। इस प्रकार फल की कामना ही आसक्ति बन जाती है। और तब मैं कहता हूँ, ''देखो मैंने क्या किया, सावधान हो जाओ, उसी जंजाल में आबद्ध मत हो जाओ।'' यह चाहे स्त्री हो, पद्धति हो, विचार हो, है यह आसक्ति ही। अब मैं बहुत सतर्क हूँ क्योंकि मैंने यह देख लिया है कि एक आसक्ति से छुटकारा पाने के लिए मुझे दूसरी आसक्ति में नहीं फँस जाना है।

मैं स्वयं से पूछता हूँ, ''आसक्ति से मुक्ति के लिए मुझे क्या करना चाहिए?'' आसक्ति से मुक्त होने की चाहत के पीछे मेरा प्रयोजन क्या है? क्या यह नहीं है कि मैं उस अवस्था को प्राप्त कर लेना चाहता हूँ जहाँ किसी प्रकार की आसक्ति नहीं है, भय नहीं है, इत्यादि? और अकस्मात् मुझे बोध होता है कि प्रयोजन पथ का निर्देशन करता है और निर्देशन मेरी मुक्ति को अनुशासित करता है। प्रयोजन होना ही क्यों चाहिए? प्रयोजन है क्या? प्रयोजन किसी वस्तु की उपलब्धि की एक आशा है, एक इच्छा है। मैं देखता हूँ कि मैं प्रयोजन के प्रति आसक्त हूँ। केवल मेरी पत्नी ही नहीं, मेरी पद्धति या मेरा विचार ही नहीं, बल्कि मेरा प्रयोजन भी मेरी आसक्ति का आधार बन गया है। इस प्रकार मैं सदा ही आसक्ति के घेरे में क्रियाशील हूँ। मेरी पत्नी, पद्धति, भविष्य की उपलब्धि का मेरा प्रयोजन— इन सबके प्रति मैं आसक्त हूँ। मुझे प्रतीत होता है कि यह तो भीषण रूप से जटिल है। आसक्ति से मुक्ति का अर्थ वास्तव में यह है, इसकी अनुभूति मुझे नहीं हुई थी। अब मैं इस सबको उतना ही स्पष्ट देख रहा हूँ, जितना स्पष्ट मैं किसी मानचित्र पर मुख्य पथ, पगडण्डी अथवा ग्रामों को देखता हूँ। अब मैं इसे अत्यधिक स्पष्टता से देखता हूँ और तब मैं स्वयं से कहता हूँ, ''अब क्या मेरे लिए यह सम्भव है कि मैं अपनी उस आसक्ति से मुक्त हो सकूँ जो मुझे अपनी पत्नी के प्रति है, उस पुरस्कार और उस लाभ के प्रति है जो मुझे मिलने जा रहा है, और इस प्रयोजन के प्रति है जिससे मैं संलग्न हूँ?'' मैं इन सबके प्रति आसक्त हूँ। क्यों? क्या इसलिए कि स्वयं में मैं अपूर्ण हूँ? क्या इसलिए कि मैं बहुत-बहुत अकेला हूँ, अत: किसी स्त्री, किसी विचार,

किसी प्रयोजन की ओर उन्मुख होकर मैं अकेलेपन की अनुभूति से पलायन करना चाहता हूँ? मैं देखता हूँ कि बात ऐसी ही है : मैं अकेला हूँ, किसी के भी प्रति आसक्ति के माध्यम से मैं भयानक अकेलेपन की अनुभूति से पलायन करना चाहता हूँ।

अत: मैं समझना चाहता हूँ कि मैं अकेला क्यों हूँ; क्योंकि मैं देखता हूँ कि यही वह वज्ह है जो मुझे आसक्त बनाती है, इस अकेलेपन ने ही जिसके-तिसके प्रति आसक्ति के माध्यम से मुझे पलायन के लिए बाध्य किया है और मैं जानता हूँ कि जब तक मैं अकेला हूँ तब तक यही क्रम चालू रहेगा। अकेले होने का तात्पर्य क्या है? इसका जन्म कैसे होता है? क्या यह मूलप्रवृत्तिगत है, वंशानुगत है, अथवा यह मेरे दैनिक कार्यकलाप से उद्भूत है? यदि यह मूलप्रवृत्तिगत है, यदि यह वंशानुगत है, तब यह मेरे ही प्रारब्ध का अंश है; मैं किसी को दोष नहीं देता। परन्तु चूँकि मैं इसे स्वीकार नहीं करता, अत: प्रश्न करता हूँ और प्रश्न के साथ रहता हूँ। मैं इसे ध्यान से देख रहा हूँ, मैं इसपर दृष्टि जमाए हूँ, और किसी प्रकार का बौद्धिक उत्तर पाने का प्रयत्न नहीं कर रहा हूँ। मैं प्रयत्न नहीं कर रहा हूँ कि कहूँ कि अकेलापन क्या है और इसका क्या करना चाहिए; बल्कि मैं प्रतीक्षा में हूँ कि यही मुझसे कुछ कहे। अकेलापन स्वयं को अनावृत करे, इसके लिए मैं सतर्क हूँ। यदि मैं पलायन करूँगा, भयभीत रहूँगा, प्रतिरोध करूँगा तो यह कभी भी अपने को अनावृत नहीं करेगा। इसलिए मैं सतर्क और सावधान हूँ। इसके प्रति इस प्रकार सावधान हूँ कि कोई भी विचार तक बाधा न डाले। विचार करने की तुलना में सतर्क दर्शन कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि तब मेरी समग्र शक्ति

अकेलेपन के अवलोकन में ही केन्द्रित रहती है, इसलिए विचार उठते ही नहीं। मस्तिष्क को चुनौती मिली है·और उसे उत्तर देना ही पड़ेगा। चुनौती दिए जाने के कारण यह संकट में है। संकटापन्न स्थिति में आपके पास अपरिमित शक्ति रहती है, और वह शक्ति विचारों द्वारा बाधित नहीं होती है। यह एक चुनौती है जिसका उत्तर अवश्य देना पड़ता है।

मैंने स्वयं के साथ संवाद के रूप में इसका आरम्भ किया। मैंने स्वयं से पूछा कि यह अनोखी वस्तु क्या है जिसे प्रेम कहते हैं, जिसके विषय में सभी चर्चा करते हैं, शृंगारिक कविताएँ, चित्र, वासना एवं इसके अन्य समस्त क्षेत्र आदि पर रचनाएँ होती हैं। मैं पूछता हूँ, क्या प्रेम जैसी कोई वस्तु है भी? मैं अनुभव करता हूँ कि इसका अस्तित्व वहाँ नहीं है जहाँ ईर्ष्या है, घृणा है, भय है। इसलिए अब मेरा प्रेम से कोई सम्बन्ध नहीं; बल्कि सम्बन्ध है उससे जो अस्तित्व में है— मेरा भय, मेरी आसक्ति। मैं आसक्त हूँ ही क्यों? मैं नहीं कहता कि यही एकमेव कारण है, किन्तु एक कारण यह पाता हूँ कि मैं निराशाजनक रूप से अकेला हूँ, विलग हूँ। जितना ही वयस्क होता जाता हूँ, मेरा विलगाव उतना ही बढ़ता जाता है। अत: मैं इसे ध्यानपूर्वक देखता हूँ। खोज के लिए यह एक चुनौती है, और क्योंकि यह एक चुनौती है, अत: मेरी समग्र ऊर्जा प्रत्युत्तर के लिए तैयार है। यह बात सरल और स्पष्ट है। यदि कहीं महाविपत्ति है, कोई दुर्घटना होती है या अन्य कुछ होता है तो वहाँ एक चुनौती होती है, और इसलिए समग्र ऊर्जा से मैं इसका सामना करने को तत्पर होता हूँ। उस समय मुझे यह नहीं पूछना होता है कि मुझे यह ऊर्जा कैसे

प्राप्त हो सकती है। जब घर जलने लगता है, तो मुझमें भागने की पूरी ऊर्जा रहती है, असाधारण ऊर्जा। मैं तब बैठा रह कर प्रतीक्षा नहीं करता और यह नहीं कहता— मुझे ऊर्जा प्राप्त करनी चाहिए। तब तक तो सारा घर जल कर राख हो जाएगा।

अस्तु, ''अकेलेपन का अस्तित्व है ही क्यों?'' इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए भी यहाँ पर्याप्त ऊर्जा है। हमने उन समस्त विचारों, अनुमानों और सिद्धान्तों को अस्वीकृत किया है जो प्रतिपादित करते हैं कि यह वंशानुगत है या मूलप्रवृत्यात्मक है। इन सबका मेरे लिए कोई अर्थ नहीं है। अकेलापन वही है, 'जो है'। इस अकेलेपन को प्रत्येक मनुष्य, यदि वह जागरूक है, तो सतही तौर से या गम्भीर रूप से झेलता ही है। यह अकेलापन है ही क्यों? यह अस्तित्व में आता ही क्यों है? क्या मस्तिष्क ही कुछ ऐसा कर रहा है, जिससे यह उपज रहा है? मैंने मूलप्रवृत्यात्मक एवं वंशानुगत मतवादों को अस्वीकृत किया और अब मैं पूछ रहा हूँ, ''क्या यह मन ही है, स्वयं मस्तिष्क ही, जो इस अकेलेपन को एवं इस समग्र विलगाव को उपजा रहा है? क्या विचारों की गति ही ऐसा कर रही है? क्या हमारे दैनिक जीवन में विचार ही इस अकेलेपन की अनुभूति का सृजन कर रहे हैं? अपने कार्यालय में मैं अपने को दूसरों से विलग कर रहा हूँ, क्योंकि मैं शीर्ष कार्य-संचालक बनना चाहता हूँ, अतएव विलगाव की प्रक्रिया में विचार हर समय सक्रिय है। मैं देखता हूँ कि विचार स्वयं को श्रेष्ठ सिद्ध करने की दिशा में सक्रिय है, मस्तिष्क स्वयं ही विलगाव की दिशा में सक्रिय है।''

अब समस्या यह है : विचार ऐसा क्यों करता है? क्या विचारों

की प्रकृति ही है स्वयं का ताना-बाना बुनना? क्या विचारों की प्रकृति ही है इस विलगाव की सृष्टि करना? शिक्षा ही इस विलगाव को लाती है, यह मुझे एक प्रकार के पेशे की और जीविका की क्षमता देती है, किसी प्रकार की विशेषता प्रदान करती है। विचार विच्छिन्न, सीमित एवं समय सापेक्ष्य होने के कारण विलगाव का सृजन करता है। उस परिसीमा में इसे यह कह कर सुरक्षा मिल जाती है, ''जीवन में मेरी एक विशेष वृत्ति है, मैं एक प्रोफेसर हूँ; मैं पूर्णरूपेण सुरक्षित हूँ।'' अत: अब मेरा प्रश्न है : विचार ऐसा क्यों करता है? ऐसा करना क्या इसकी मूल प्रकृति में ही है? विचार जो कुछ करता है वह स्वयं में सीमित ही होता है।

अब समस्या यह है कि क्या विचार यह अनुभव कर सकता है कि वह जो कुछ भी करता है वह सीमित होता है, विच्छिन्न होता है, अतएव विलगाव लानेवाला होता है और यह भी कि वह जो कुछ करेगा वह इसी प्रकार होगा? हम बहुत ही महत्त्वपूर्ण बिन्दु पर पहुँच गए हैं : क्या विचार स्वयं अपनी सीमितता का अनुभव कर सकता है? अथवा यह मैं ही कह रहा हूँ कि वह स्वयं में सीमित है? मैं देखता हूँ कि इसे समझना बहुत आवश्यक है, क्योंकि इस विषय का यही वास्तविक सार-तत्व है। यदि विचार स्वयं यह अनुभव करता है कि वह सीमित है, तब तो वहाँ न कोई प्रतिरोध है और न संघर्ष है; विचार कहता है ''मैं वह हूँ''। किन्तु यदि मैं ही इसे यह बता रहा हूँ कि यह सीमित है तब मैं उस सीमितता से स्वयं को अलग कर रहा हूँ। तब मैं सीमितता पर विजय पाने के लिए संघर्ष करता हूँ। अतएव वहाँ द्वन्द्व होता है, हिंसा होती है; परिणामत: प्रेम नहीं होता।

क्या विचार यह अनुभव करता है कि वह सीमित है? मुझे इसका पता लगाना है। मुझे चुनौती दी गई है। चूँकि मुझे चुनौती मिली है इसलिए मेरे पास विशाल ऊर्जा है। अब इसे दूसरे रूप में रखें : क्या चेतना यह महसूस करती है कि यह स्वयं अपनी अंतर्वस्तु है? अथवा यह वह है जिसे मैंने दूसरे को कहते सुना है— ''चेतना स्वयं अपनी अंतर्वस्तु है; अर्थात् इसकी अंतर्वस्तु से ही चेतना का निर्माण हुआ है।'' इसीलिए मैं कहता हूँ— ''हाँ, यह ऐसा ही है।'' क्या आप इन दोनों का अन्तर देख पाते हैं? बादवाला, जो विचार द्वारा सृजित है, ''मैं'' द्वारा आरोपित है। यदि मैं विचार पर कुछ भी आरोपित करता हूँ तो संघर्ष होता है। किसी पर कुछ आरोपित करना क्रूर, निरंकुश शासन की भाँति है, किन्तु यहाँ शासक वह है जिसे मैंने ही रचा है।

अतएव मैं स्वयं से पूछता हूँ : क्या विचार ने अपनी परिसीमा का अनुभव कर लिया है? या फिर वह स्वयं को असाधारण, साधु एवं दैविक सिद्ध करने का मात्र प्रदर्शन कर रहा है?— यह सब अनर्गल है क्योंकि विचार स्मृति पर आधारित है। मैं देखता हूँ कि इस बिन्दु पर अधिक स्पष्टता अपेक्षित है— कि विचार को सीमित कहनेवाला कोई बाहरी प्रभाव तो आरोपित नहीं है? क्योंकि जहाँ किसी प्रकार का आरोपण नहीं है वहाँ संघर्ष भी नहीं है। तब विचार सहजता से अनुभव करता है कि वह सीमित है; यह अनुभव करता है कि यह जो कुछ भी करता है— जैसे ईश्वर की पूजा इत्यादि— सब सीमित है, आडम्बरयुक्त है, क्षुद्र है; यद्यपि इसने यूरोप में पूजा हेतु अद्भुत गिरजाघरों का निर्माण किया है।

इस प्रकार स्वयं से किए हुए इस संलाप में इस बात की खोजबीन हुई है कि अकेलापन विचार द्वारा सृजित है। विचार ने अब यह अनुभव कर लिया है कि वह सीमित है, अत: वह अकेलेपन की समस्या का समाधान नहीं कर सकता। और क्योंकि यह अकेलेपन की समस्या का समाधान नहीं कर सकता, तब क्या अकेलेपन का अस्तित्व है भी? विचार ने अकेलेपन की भावना की सर्जना की है, रिक्तता की रचना की है, क्योंकि वह सीमित है, विच्छिन्न है, विभक्त है और जब इसे इसकी अनुभूति होती है तब अकेलापन नहीं होता। फलत: आसक्ति से भी मुक्ति हो जाती है। मैंने कुछ नहीं किया है; मैंने आसक्ति का सतर्क अवलोकन किया है, जो कुछ भी इसमें समाहित है, लोभ, भय, अकेलापन, इत्यादि सब कुछ, उसका मैंने पता लगाया है, अवलोकन किया है— मात्र निरीक्षण, किया है, न कि विश्लेषण। निरीक्षण अर्थात् केवल निरीक्षण, और इसमें ही यह आविष्कार हुआ है कि यह सब कुछ विचार का ही किया-धरा है। विचार, क्योंकि यह विच्छिन्न और अपूर्ण है, आसक्ति का सृजक है। जब यह इसे अनुभव कर लेता है तब आसक्ति ख़त्म हो जाती है। इसके लिए किसी प्रकार का प्रयास नहीं किया जाता है। क्योंकि जिस पल प्रयास होगा, संघर्ष की पुनरावृत्ति होगी।

प्रेम में आसक्ति नहीं होती; यदि आसक्ति है तो वहाँ प्रेम नहीं है। जो कुछ भी प्रेम नहीं है, उसके निषेध से, यानी आसक्ति के निषेध मात्र से एक प्रमुख तत्त्व का निराकरण हो जाता है। मैं जानता हूँ मेरे दैनिक जीवन में इसका क्या अर्थ है— अपनी पत्नी, अपनी प्रेयसी या पड़ोसी द्वारा आहत होने आदि का कोई स्मरण नहीं; उसके विषय में

विचार द्वारा निर्मित किसी भी प्रतिमा के प्रति कोई भी आसक्ति नहीं; यह भी नहीं कि उसने मुझे किस प्रकार पीड़ित किया, उसने मुझे किस प्रकार सुख-सुविधा दी है, मुझे कैसा कामजनित सुख दिया है। विचार की गति ने जिस किसी के भी बारे में प्रतिमाएँ निर्मित की हैं, उन प्रतिमाओं के प्रति आसक्ति अब विदा हो चुकी है।

इस सम्बन्ध में कुछ और भी तत्त्व हैं : क्या मुझे एक-एक का क्रमानुसार निवारण करना होगा ? अथवा यह पूर्णतया समाप्त हो गया है? क्या मुझे एक सिरे से दूसरे सिरे तक दृष्टि डालनी होगी; क्या मुझे एक-एक करके सभी का— आसक्ति का, भय का, सुख का, आकांक्षा का— अन्वेषण करना पड़ेगा? मैं समझता हूँ कि इन विविध तत्त्वों के सम्बन्ध में मुझे एक-एक करके दृष्टि डालने की आवश्यकता नहीं है। मैं इसे एक दृष्टि में ही देख लेता हूँ, मैंने इसे भली-भाँति ग्रहण कर लिया है, समझ लिया है।

अस्तु, प्रेम क्या है यह तब ज्ञात होता है जब हम यह जान लेते हैं कि ''प्रेम'' क्या-क्या नहीं है। मुझे यह नहीं पूछना है कि प्रेम क्या है। मुझे इसके पीछे भागना नहीं है; यदि मैं ऐसा क़रता हूँ तो यह प्रेम नहीं है; यह फलाकांक्षा है। अत: इस खोजबीन में सावधानीपूर्वक, ध्यान से, बिना किसी विकृति और भ्रान्ति के, मैंने उस सबको नकार दिया है जो प्रेम नहीं है। और अब प्रेम का अस्तित्व है।

प्रेम : स्वयं से एक संलाप

मनुष्य के आपसी सम्बन्धों में आने वाली कठिनाइयों और चुनौतियों की एक सारगर्भित व्याख्या है। एक परिचर्चात्मक बैठक में से इसे संकलित किया गया है लेकिन लगता यह है कि जैसे कृष्णमूर्ति स्वयं को ही सम्बोधित कर रहे हैं। ऐसा करते हुए वे बड़ी गहराई और सूक्ष्मता के साथ हमें अपने भीतर की यात्रा पर साथ ले जाते हैं, हमारी आसक्ति, अकेलेपन और प्रेम के अभाव की समस्या को सामने लाकर खड़ा कर देते हैं।

'मैंने स्वयं के साथ संलाप के रूप में इसका समारम्भ किया। मैंने स्वयं से पूछा कि यह अनोखी वस्तु क्या है जिसे प्रेम कहते हैं, जिसके विषय में सभी चर्चा करते हैं, शृंगारिक कविताएँ, चित्र, वासना एवं इसके अन्य समस्त क्षेत्र आदि पर रचनाएँ होती हैं। मैं पूछता हूँ : क्या प्रेम जैसी कोई वस्तु है भी ?'

Library IIAS, Shimla
H 181.49 K 897 P
G6094

मूल्य : रुपये 10/-